ॐ

केन उपनिषद

युरोप के योग शिक्षकों के साथ डलहौज़ी में सितंबर १९९४ में हुआ वार्तालाप

**प्रथम अध्याय**

**शरीर तथा समग्रता**

**मित्रों के प्रति अभिवादन -** युरोप से पुनः एकबार डलहौजीमें आये हुए, मेरे विद्यार्थियोंका मैं स्वागत करती हूँ। इस अभ्यास वर्ग के लिये आये हुए मेरे भारतीय तथा अभारतीय मित्रों का भी मैं स्वागत करती हूँ।

गत कुछ वर्षों से हम कुछ मित्र मिलकर वेद – उपनिषदों का अध्ययन कर रहे हैं। हमने ईशावास्य्‍ उपनिषद्‍, छांदोग्य्‍ उपनिषद्‍ तथा गीताजी के बारह अध्यायों का, उसीप्रकार मुनी पतंजली के राज-योग के कुछ भाग का यहाँ अध्ययन किया है। अब की बार हम केन-उपनिषद का साथ में अध्ययन करेंगे। ऐसे लोग जिन्हे वेद-शास्त्रों की, वैदिक-संस्कृतभाषा की पहचान न हो, उसीप्रकार भारतीय तत्वज्ञानके मूलगामी सिद्धांतों की कल्पना न हो, उन्हें यह अभ्यास वर्ग अमूर्त अथवा गूढ और समझनें के लिये बहुत कठिन लग सकते हैं। जो मित्र मेरे साथ अध्ययन करते आ रहे हैं वे योग शिक्षक हैं, योग अभ्यासक हैं। उन्हें हठ योग की, राज योग की तथा याज्ञवल्क के स्मार्त योग की, जानकारी है। इसलिये जिन्होंने पहले मेरे साथ अध्ययन नहीं किया है उन्हें हमें क्षमा करनी होगी क्योंकि हम उन्हें अधिक सरल बनाकर समझा नहीं पायेंगे। प्रातःकालीन अभ्यास वर्ग में हम मूलग्रंथ देखेंगे। सुबहके समय जो कुछ भी कहा जायेगा उस पर अगर कुछ सवाल हों या उस बारे में और कुछ कहना हो तो उसके लिये दोपहर के सत्र में विद्यार्थी-मित्रों का स्वागत है। यह कोई शिविर नहीं है, यहाँ व्याख्यान का प्रयोजन नहीं है, केनोपनिषद के केवल मूलग्रंथ का अभ्यास करना हेतु नहीं है। इस उपनिषद के अध्ययन का हमारा हेतु रहेगा- उस ऋषिकालीन शिक्षा का आज के तथा-कथित नवयुग में क्या तथा किसप्रकार प्रयोजन होगा वह कैसे उपयुक्त हो सकेगी? उस ऋषिकालीन शिक्षा की योगाभ्यास में- विशेष कर राज-योगमे उपयुक्तता तथा महत्व देखने में भी हमारी रूचि रहेगी।

इस अभ्यास-वर्ग में इंटरनॅशनल रिसर्च इन्स्टिट्यूट फॉर योगिक कॉन्शसनेस के संस्थापक सदस्य उपस्थित हैं। उनके लिये तथा योग के विद्यार्थियों के लिये इस अभ्यास-वर्ग का अत्यंत महत्व है।

मेरे विद्यार्थी मित्रों को मैं याद दिलाती हूँ कि उपनिषद याने गुरु तथा शिष्यों के बीच का संवाद होता है। वह एक संवाद के द्वारा प्रश्नोत्तर के माध्यम से सत्य को खोजने की अद्‍भुत प्रक्रिया एवम्‍ विलक्षण वैज्ञानिक प्रयोग है। वे सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदांत इत्यादी भारतीय तत्वज्ञानकी छः शाखाओं की तरह नहीं है। इनमे तत्वज्ञान का प्रचार नहीं है। इसमें तो सत्य की ओर निर्देशित किया गया है – जो कि वैश्विक जीवन ने ऋषियों को उद्‍घटित कर दिखलाया है। यह संवाद उस सत्य को शब्दों में उंडेलकर जिज्ञासूओं तक पहुँचाने का गुरुद्वारा किया गया प्रयास है। अगर जीवन के मूलभूत सत्य को खोजने की इच्छा तीव्र नहीं है, तो फिर उपनिषदोंका या वेदों का कोई औचित्य नहीं है।

ईशावास्य उपनिषद में ऋषियों ने सत्य के तत्व को शब्दों में बताने का प्रयास किया है जो कि अंतर्भूत तथा ज्ञानातीत है, सर्वव्यापी एवम्‍ सर्वश्रेष्ठ है। ईशावास्य उपनिषद ने हमें बतलाया है कि किसप्रकार से हमारे सभी कर्म सत्य के प्रकटन के लिये साधन मात्र हैं। ईशावास्य उपनिषद ने हमे बतलाया है कि जब तक हमारे कर्म सत्य की खोज के साधन नहीं बन जाते – विद्या, अविद्या, संभूति, विनाश- ये सभी हमें अंधःकार की ओर ले जाते हैं। छांदोग्य उपनिषद में नाद को संबोधित किया है जो कि इस सर्जन का मूलतत्व है। उसमें हमे यह दिखलाया गया है कि प्रणव - ॐ कार नाद किसी आहत से निष्पन्न नहीं हुआ है बल्कि वह तो स्वयं निर्मित, सामंजस्यपूर्ण लयबद्ध नाद है जिसके विस्फोट से कई हज़ार विश्व सृजन पाते हैं। तो हम तत्व, जो कि अंतर्भूत एवम्‍ परा-तत्व है उससे - सर्जन की आदि-उर्जा, नादब्रह्म का उद्‍गाता ॐकार, तक पहुँचते हैं।

आज के प्रातः से हम केनोपनिषद को देखेंगे। यह उपनिषद सामवेद के अंतर्गत आता है, और सामवेद-ब्राह्मण में प्रथम आठ अध्याय जो कि केनोपनिषद के पहले आते हैं वे वेदों से प्रकट हुए हैं। केन उपनिषद के या केन ब्राम्हण के पहले आने वाले आठ अध्यायों में ‘यज्ञ’ में आवश्यक दान आदी में किये जानेवाले भिन्न-भिन्न प्रकारके विधि-विधानों का वर्णन आता है। उसके बाद नवाँ अध्याय प्रार्थना से शुरु होता है। प्रत्येक उपनिषद की अपनी-अपनी विशेष प्रर्थना होती है। इस उपनिषद की प्रर्थना कुछ इस प्रकार से है-

**प्रार्थना**

*ॐ आप्यायन्तु ममाग्ङानि वाक्‍ प्राणश्वक्षुः श्रोत्रमथोबलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।*

*ॐ शांतिः ।शांतिः। शांतिः।*

यह प्रार्थना जो कि उपनिषद का अत्यंत संक्षिप्त सार है, अभ्यास के पूर्व गुरु-शिष्य साथ में गाते हैं। यही वेदोंकी शिक्षा प्रदान करने की कार्य-प्रणाली का सौंदर्य है। सत्य की खोज के हेतु से जो सह-अभ्यास होनेवाला है, उसके लिये यह प्रार्थना स्वयं-प्रेरणा है जिसका गायन शिक्षक तथा विद्यार्थी एक साथ करते हैं। यहाँ मंत्र बता रहे हैं, “मेरे सभी अवयवों का समग्रतासे संवर्धन होवे इस ओर मेरा ध्यान रहे - *‘अपायन्तु’। ‘आयन्तु’* से मतलब है समग्रतासे, संपूर्णता से संवर्धन, विकास। हम प्रत्येक शब्द की उत्पत्ती तक अथवा उसके मूल धातु तक नहीं जायेंगे। वह अत्यंत सैद्धांतिक हो जायेगा। तो ममाग्ङानि, मम याने मेरे, अंग्ङानी याने अवयव, मेरे सभी अवयवों का समग्रता से संवर्धन, विकास होवे। अब मेरे अग्ङ कौनसे हैं जिनका विकास होना है? वाक याने वाणी, प्राणः याने वह जीवित उर्जा जो कि मुझमें धधक रही है, चक्षु याने मेरी आँखे, श्रोत्रम्‍ याने कान, बलम्‍ याने वह ताकत जो सभी अवयवों मे एकही समय व्याप्त है। *इन्द्रियाणि च सर्वाणि* - मेरे सभी इंद्रिय। सभी को ठीक तरह से विकसित होने दें। *बलमिन्द्रियाणिच सर्वाणि।*

**अवयव : ब्रह्मन्‍ की अभिव्यक्ति**

हमें हमारे सभी अवयवों के स्वास्थ्य एवम्‍ उनके संवृद्धी की इतनी चिंता क्यों करनी है? - उपनिषद्‍ हमें बतलाते हैं कि सभी ब्रह्म है- सर्वंम ब्रह्मौपनिषदम्‍. जिसे हम हमारा शरीर समझते हैं, जिन्हें अवयव कहते हैं वह सभी कुछ ब्रह्मन्‍ की अभिव्यक्ति है। वे कोई भौतिक पदार्थ नहीं हैं। केवल पदार्थ की अभिव्यक्ति नहीं है। *सर्वम्‍ ब्रह्मौपनिषदम्‍* - सभी उपनिषदों में केवल एक ही सत्य को प्रकाशित किया है - जिसका भी अस्तित्व है, जो कुछ भी अभिव्यक्त हुआ है वह ब्रह्मन्‍ से ही निकला है, उत्पन्न हुआ है और उस अभिव्यक्ति में ब्रह्मन्‍ के मौलिक गुणधर्म समाये हुए हैं। यही वजह है कि सभी अस्तित्व ब्रह्मन्‍ की ही अभिव्यक्ति है। मन तथा द्रव्य में, द्रव्य तथा उर्जा में, भौतिक तथा आध्यात्मिक में कुछ भी पृथकत्व नहीं है। उपनिषदों मे आध्यात्मिकता की शिक्षा दी गई है। आध्यात्मिकता जीवन जीने का विज्ञान है। यह कोई मजहबी विचार-पद्धती नहीं है, इसे परंपरागत रूढियों से अथवा भोलेपन के भाव से कुछ लेना देना नहीं है। यह अत्यंत सीधा-सादा आडंबरहीन, पवित्र वैज्ञानिक अभ्यास है। *सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां*  हमें अपने अवयवों के अध्यात्मिक गुणों को नजर-अंदाज़ कर नकारना नहीं है। हम उन्हें केवल अपने इंद्रिय तथा अवयव; शरीर का केवल एक भाग, रक्त-माँस ही न मानें। *ब्रह्म निराकुर्यां मा -* हम अवयवों में समाये हुए ब्रह्मन्‍ का अस्वीकार न करें।

क्या होगा अगर हमनें वाक, प्राण, चक्षु, श्रोत्र में समाई हुई गुणवता को अस्वीकार कर दिया? क्या होगा अगर वह नामंजूर कर दी गई? *मा मा ब्रह्म निराकरोद* - हमे नकारा जाएगा। ब्रह्मन्‍ द्वारा, सत्य जो कि बहिरंग में समाया हुआ है उसके द्वारा, हमारा स्वीकार नहीं होगा। इसका क्या मतलब हुआ? इसका मतलब यह हुआ कि विश्व में समाये हुए सत्य का हमारे शरीर में समाये हुए सत्य से कोई भी संपर्क नहीं रहेगा। शरीर की आध्यात्मिक गुणवत्ता को हमारे अपने इनकार के तथा अस्वीकार के कारण हम स्वयं ही अकेले पड जायेंगे। *मा ब्रह्म निराकरोद* - ब्रह्मन्‍ द्वारा हमारा परित्याग न हो। *अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु -* एकदूसरे का बोध रहे, भान रहे। सत्य, ब्रह्मन्‍ हमारे अस्तित्व के प्रति अभिज्ञ रहे। हम भी उसके प्रति अभिज्ञ रहें जिससे की दोनों में संवाद बना रहे। हमने उसे जानना, हमें उसकी अनुभूति होना तथा उसने हमें जानना ही परस्पर संवाद घटित करवा सकता है। अगर हम उसके अस्तित्व के प्रति अभिज्ञ ही नहीं हैं तो संपर्क हो नहीं सकता, परस्पर संवाद नहीं हो सकता। *अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु* । एकदूसरे का बोध, एकदूसरे को पहचानना, एकदूसरे के प्रति अहो-भाव, यह सब क्या करेगा? *तदात्मनि निरते -* अगर वह बोध, वह अभिज्ञता, वह पहचानना घटित हो जाय तो, सभी धर्म, सभी प्राकृतिक सद्‍गुण, नैतिकता, मानव जाति का सभी अस्तित्वसंबंधी सार, हमारे जीवन में अभिव्यक्त होगा। *तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि* - तो उस व्यक्ति में, हममें, अभिज्ञता से समृद्ध - *ये धर्मः उपनिषत्सु (धर्मास्ते)गायन्ते -* सभी सद्गुण, सभी उपनिषदों में वर्णन किये हुए धर्म, स्वाभाविकही हमारे द्वारा अभिव्यक्त होंगे। *उपनिषत्सु (धर्मास्ते) गायन्ते ते मयि सन्तु -* हम प्रार्थना करते हैं, आशा करते हैं कि सभी धर्म, वे सभी सद्‍गुण स्वयं ही हमारे जरिये प्रकट हो जाये। जब हम जान लेते हैं कि वाक, प्राण, श्रोत्र, *सर्वम्‍ब्रह्मौपनिषदम्‍ -* जिन्हें हम अवयव समझते हैं वे सभी ब्रह्मन्‍ हैं, तभी अनंतता की सभी विशिष्टता की अभिव्यक्ति के लिये, सत्य के सभी अभिलक्षणों के, तथा सौंदर्य एवम्‍ भलाई के हम साधन बन सकते हैं। हम एक भिन्न अभिव्यक्ति हैं किंतु उससे बाहर नहीं हैं। उससे पृथक नहीं हैं। जीवन की यह अभिव्यक्ति जिसे हम हमारा शरीर कहते हैं - उसमें तथा जीवन की समग्रता में कुछ भी अलगाव नहीं है। इसे आप जल की एक बूँद कह सकते हैं - लेकिन सागर के जल की एक बूंद - सागर का ही भाग होती है। इसी तरह से हम भी समग्रता के मूलभूत, चेतन अंश हैं। मैं जीवन की समग्रता का चेतन अवयव हूँ। अति सुंदर है यह प्रार्थना! *ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु। शांतिः! शांतिः शांतिः!* हममे शांति बनी रहे, सर्वत्र शांति बनी रहे, हमारे साथ शांति बनी रहे ..! यह हुआ प्रथम मंत्र, इस प्रार्थना के साथ हम हमारा अध्ययन प्रारंभ करते हैं।

**विद्यार्थी का प्रश्न**

अब जो अभ्यास होता है वह हमेशा ही विद्यार्थी के प्रश्न से आरंभ होता है। वह शिष्य जो कि सामवेद के प्रथम आठ अध्यायोंका अध्ययन कर चुका है अपने गुरुसे प्रश्न करता है।

*केनेषितं पतति प्रेषितं मनः* - शिष्यने एक बहुतही महत्वपूर्ण प्रश्न पूछा है। *केन* याने किसने? किसके द्वारा? प्रत्येक प्रश्न -*केन-* इस शब्दसे प्रारंभ होता है और इसीलिये इस उपनिषद का नाम केन-उपनिषद है।

*केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।*

*केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥१.१॥*

शिष्य कहता है, “अच्छा, आप कहते हैं कि सभी ब्रह्मन्‍ है। आप कहते हैं कि हमारे सभी अवयव भी ब्रह्मन्‍ की, सत्य की ही अभिव्यक्ति है, आप कृपया मुझे बताइये कि वह क्या है अथवा कौन है, जो मन को अपने उद्येश्य की तरफ निर्देशित करता है? मन कैसे अचूकता से, एकदम ठीक रीति से, अपने उद्देश्य तक पहुँच पाता है? *केनेषितं पतति प्रेषितं मनः* ? *मनः* याने मन। मन कैसे इतनी अचूकता से, निश्चितरूप से, विशिष्ठ संबंधित वस्तु तक पहुँच जाता है? कौन इच्छा करता है, कौन निर्देशित करता है? *केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः*। यह प्राणशक्ति भी बाहर जाकर किस तरह ब्रह्माण्ड से प्राणों को ग्रहण करती है? केन चक्षु पश्यन्ति? नेत्र अपने उद्देश्यतक उन्हें जो देखना है उस तक, कैसे पहुँचते हैं? नेत्र कभी आवाज तक या कान कभी रूप तक नहीं पहुँचते हैं। आँखें रूप, वस्तु देखती हैं और कान आवाज सुनते हैं। यह इंद्रिय तथा उनके उद्देश्य का जो विशिष्ठ संबंध है वह इतना अचूक एवम्‍ निश्चित है, उसे कौन भला मार्गदर्शन करता है? यह बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न है। सभी अवयवों की एकत्रित अथवा प्रत्येक अवयव की अलग-अलग प्रज्ञा है जिसके कारण वे अपने-अपने संबंधित उद्देश्य तक पहुँचते हैं या फिर कोई चेतना है? क्या सभी अवयवोंसे अलग कोई पृथक प्रज्ञा है जो उन्हें मार्गदर्शन करती है? ऋषि कहते हैं, “*सर्वम्‍ ब्रह्मम्‍*- सभी आध्यात्म है। लेकिन शिष्यने देखा है कि कैसे हर कोई जीता है। उसने यह भी देखा है कि आँखें रूप से, रंग से संबंधित है, कान आवाज से, उसके सभी प्रकारों से-मधुर, कर्कश, कंपनयुक्त इ.; उसीप्रकार प्राण-शरीर में आते हैं तथा बाहर भी जाते हैं- उश्वास के रूप में। अंदरसे प्राण बाहर जाते हैं तथा बाहर से पुन्हः प्राण ग्रहण कर अंदर ले आते हैं। तो श्वास-प्रश्वास एक लय में चलता रहता है।

यह सब कैसे चलता है? वह गुरु से पूछ रहा है, “इसे कौन निर्देशित करता है? यह किसकी प्रेरणा है? क्या हरेक इंद्रिय का, अवयव का कोई भिन्न-भिन्न प्रेरक है? या फिर कोई एक तत्व है जिसकी मूलभूत प्रेरणा प्रत्येक अवयव में समायी हुई है और वही निर्देशित करती है?” तो, वह विद्यार्थी प्रश्न कर रहा है - कान कैसे सुन पाते हैं, आँखें कैसे देख लेती हैं, प्राणशक्ति कैसे सब जगह घूमती है और यह मन कैसे विचार करता है? प्रत्येक अवयव के बारे में एक प्रश्न पूछा है। यह है प्रथम मंत्र।

*“केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।*

*केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः पश्यन्ति श्रोत्रं श्रुणोति इति”*

यह प्रश्न पूछा गया है। गुरु बहुतही सावधानी से तथा कोमलता से उत्तर देने का प्रयास करते हैं। अब यह उत्तर भी केवल सांकेतिक होगा। शिष्यके आकलन को उत्तेजित करने के हेतु से उत्तर केवल एक संकेत होगा। यहाँ कोई तैयार जानकारी नहीं दी गई है - जैसे कि आजकल दी जाती है। दिमाग़ मे सुनियोजित जानकारी को केवल भरना, कोई शिक्षा के मायने नहीं हैं। इसमे कुछ अधिक अभिप्रेत है। विद्यार्थी में जिज्ञासा जगाकर, उसकी सृजनात्मक उर्जा को प्रेरित तथा जागृत करना, जिसकारण विद्यार्थी स्वयं ही प्रयत्न करता है और फिर वह आत्म-खोज उसके चित्त का आशय बन जाती है। देखिये, जब हम जानकारी को अपने स्मृति में केवल जमा कर देते हैं तो वह ‘विद्या’ अथवा ‘ज्ञान’ बन जाता है। जरूरी नहीं कि वह हमारी ‘सत्य की खोज’ हो जाए। तो ऋषि उत्तर देते हुए कहते हैं –

*श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्‍ वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ।*

*चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥१.२॥*

“देखो पुत्र, जो कान तुम देखते हो और कहते हो कि कान सुनते हैं, वह तो केवल इंद्रिय है। संपूर्ण श्रवण शक्ति उस इंद्रिय में भरी हुई नहीं है। *श्रोतस्य श्रोत्रम्‍* - श्रोत्र के श्रोत्र, कानों के कान, *चक्षोषुचक्षु* नेत्रों के नेत्र, *मनसो मनोयद्‍* - मन का मन, *प्राणस्य प्राणः –* प्राण शक्ति के प्राण, तुम जानते हो कि प्राण अति तरल तथा सूक्ष्म होते हैं। इंद्रिय - कार्य करने वाले संवाहक इंद्रिय और उनमे पूर्णतया व्याप्त अति आवश्यक ऊर्जा, शिष्य इन दोनों में जो अंतर है उनमें जो भेद है वह समझ पाए, इसका प्रयास ऋषि कर रहे हैं। अगर वह ऊर्जा इंद्रियों में व्याप्त नहीं है तो आँखें, कान, मन इ. अपने आपसे देखना, सुनना, विचार करना या हलचल करना नहीं कर सकते हैं। वे कहते हैं कि इन इंद्रियों के पीछे कोई उर्जा है, और यह बात वे बहुत ही सुंदर काव्यात्मक शैली में बताते हैं। वैसी काव्यात्मक शैली में इसे मैं कैसे बताऊँ यह समझ नहीं आ रहा है। *श्रोतस्य श्रोत्रम्‍* - कानों के कान, नेत्रों के नेत्र, मन का मन --- यह बार-बार दोहराना लग सकता है। लेकिन यह दोहराना नहीं है। यह तो हरेक इंद्रिय जो भिन्न लक्ष्य के लिये सुसज्जित है उसमें तथा उसमें व्याप्त जो उर्जा है उसमे का भेद है। यह मूलभूत प्रेरणा है, मार्गदर्शी तत्व है जो रासायनिक, माँसपेशीय, तंत्रिका संबंधी अथवा कायिक उर्जा से भिन्न है।

**प्रज्ञा – निर्देशक उर्जा**

हमें लगता है कि हम कानों से सुनते हैं और आँखों से देखते हैं। आँखें देखती हैं। ऋषि कहते हैं, “नहीं, आँखों से देखना घटित करवाया जाता है, उन्हें देखने हेतु मदद की जाती है क्योंकि उनके भीतर एक उर्जा है जो देखना चाहती है, जो सुनना चाहती है, जो विचार करना चाहती है। यद्यपि सभी इंद्रिय, सभी अवयव, कार्य करने के लिये सुसज्ज हैं लेकिन वे प्रज्ञा, प्रेरणा अथवा अनुबोधक प्रज्ञासे सुसज्ज नहीं है। वह प्रज्ञा अलग है और सभी इंद्रिय अलग हैं। यही वजह है कि जब वह उर्जा देह को त्याग कर चली जाती है तो अत्यंत सुंदर नेत्र भी देख नहीं पाते हैं और अति संवेदनशील कान भी सुन नहीं पाते हैं। देह पडा रहता है और आप कहते हैं कि वह लाश है, मृत्यू हो गई है। मृत्यू का मतलब क्या है? अब वहाँ वह प्रज्ञा, वह मूलभूत उर्जा नहीं है। इस संपूर्ण शानदार संगठित शरीर रचना में, जिसे हम देह कहते हैं, अब वह ऊर्जा व्याप्त नहीं है। इसलिये ऋषि कहते हैं, “देखो पुत्र, निरीक्षण करो, भेद को, भिन्नता को जानो। देखो कि अवयव, इंद्रिय कैसे कार्य करते हैं और वह प्रेरणा, इंद्रियों के कार्य से एकदम अलग है, पृथक है।”

परम-इच्छा, प्रज्ञा यह एक भिन्न स्त्रोत है जो कि भौतिक में होते हुए भी उससे अलग है। देखो, यह गूढ, गहन ऐसा कुछ नहीं है। आप सभी उद्योगप्रधान देशों से आए हुए हैं जहाँ विज्ञान ने भी तरक्की की है। प्रत्येक अणु में ऊर्जा का एक हिस्सा रहता है, अणु में वह होते हुए भी उस अणु के वस्तुमान से उस ऊर्जा के वस्तुमान तथा आकार का कुछ संबंध नहीं होता है। वह ऊर्जा अत्यंत सूक्ष्म है, आप उसका विस्फोट कर सकते हैं- न्यूक्लिअर एनर्जी - उस अणुमें ऊर्जा भरी हुई है फिर भी उस ऊर्जा की मात्रा का अणु के वस्तुमान से कुछ अनुपात या संबंध नहीं लगाते बनता। आप गणितीय आधार से ऐसा नहीं कह सकते कि इतने बडे अणु में इतनी सारी ऊर्जा होनी चाहिये, प्रोटॉन तथा इलेक्ट्रॉन में या न्यूटॉन में न्यूक्लीअर एनर्जी नहीं होनी चाहिये। ‘जिसमें’ भरी गयी है वह तथा ‘जो’ भरी गयी है वह! जिसमें वह ऊर्जा भरी है उसे तो निश्चित ही उस ऊर्जा को धारण करने के लिये संवेदनशील होना होगा। तो मानवी देह को उस वैश्विक प्रज्ञा को धारण करने हेतु संवेदनशील बनाया है; और फिर भी वह देह एक प्रकारसे धारण करनेवाला पात्र ही है।

इसी बात को ऋषी समझाने की कोशिश कर रहे हैं। क्या आपलोगों को याद है, छांदोग्य उपनिषद था न, जिसमें ऋषि उद्दालक अपने पुत्र से बरगद के पेड का बीज लाने के लिये कहते हैं? वे कहते हैं, “क्या तुमने बरगद का पेड देखा है?” और फिर वह कहता है, “हाँ, वह विशाल वृक्ष। उसके बीज में वह विशाल वृक्ष समाया हुआ है।” ‘मुझे वह बीज लाकर देना जरा।’ और फिर वह उन्हें बीज लाकर देता है – एकदम नन्हा-सा बीज। उसे देख कर वे कहते हैं, “कितना पागल पन है! तो क्या तुम्हे यह कहना है कि यह उस विशाल वृक्ष का बीज है? इस नन्हें-से बीज में वह वृक्ष समाया हुआ है?” और फिर वह शिष्य कहता है, “बिलकुल गुरूजी, यही बीज है। जब इसे बोया जाता है तो यह अंकुरित होता है और बढकर बरगद का वृक्ष बन जाता है।” “तो क्या संपूर्ण वृक्ष इस बीज में समाया हुआ है?” “हां गुरूजी” शिष्य जवाब में कहता है। “तो पुत्र, इसी तरह से, उस प्रज्ञामें स्वयं को इस शानदार तथा तेजस्वी विश्व के रूप में, अभिव्यक्त होने का सामर्थ्य है। उस विशाल बरगद के वृक्ष का बीज, आकार में बडा होना जरूरी नहीं है। वह तो एक नन्हीं-सी चीज है। उसी प्रकार इस बडे सारे मानवी देह में सभी ऊर्जा का स्त्रोत, प्रेरणा, प्रज्ञा कोई अवयव के रूप में या किसी इंद्रिय के रूप में दिखाई देना जरूरी नहीं है। यह कोई ज्ञानेंद्रिय नहीं है। मन एक इंद्रिय है। जैसे मस्तिष्क को बुद्धी को संस्कारित किया जा सकता है वैसे ही मन को भी आचरण के, बरताव के ढाँचे में संस्कारित किया जा सकता है। बुद्धि को भाषाएँ, सिद्धांतिक विज्ञान, अनुमानित विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, भौतिकशास्त्र, जीवशास्त्र, रसायनशास्त्र इ. में संस्कारित किया जा सकता है। तो ऋषि कहते हैं, “विवेक से भेद पहचानना सीखो। यह परम-इच्छा, प्रभावयुक्त आदेश, प्रज्ञा जो है वह इंद्रियों की शक्ति से, भिन्न ऊर्जा है, भिन्न शक्ति है। इस पर शिष्य कहता है, “अच्छा , अगर यह ऐसा है तो यह तो बडा ही दिलचस्प है। मुझे लगा कि अगर यह वाक्‍, मन, प्राण, श्रोत्र इ. में है तो इन्ही इंद्रियों से सरोकार रखकर उसे खोजना आसान होगा। लेकिन आप तो कहते हैं कि यह अलग है। उन्हीं में समायी हुई है लेकिन भिन्न है।”

“अब आप मुझे बताइये कि मैं उस स्रोत तक कैसे जाऊँ? मैं मेरे शरीर को अनुशासित कर सकता हूँ, मेरी वाणी को, नेत्रों को, श्रोत्र को - श्रवणशक्ती को भी अनुशासित कर सकता हूँ। लेकिन अगर वह इन सभी इंद्रियों से भिन्न है तो उस तक कैसे पहुँचा जाए? कैसे खोजूँ? कैसे पहुँचू? उसे किस तरह से समझूँ, कैसे जानूं?” और फिर प्रश्न का उत्तर आता है –

**कोई शब्द सहायक नहीं हो सकता**

*न तत्र चक्षुर्‍ गच्छति न वाग्‍ गच्छति नो मनः।*

*न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुष्यात्‍ ॥१.३॥*

*न वाक्‍ गच्छति नो मनः* – “मेरे पुत्र, वाणी वहाँ पहुँच नहीं सकती और उसे श्ब्दों में पकडकर यहाँ व्यक्त नहीं किया जा सकता।” *न तत्र वाक्‍ गच्छति*, वाणी वहाँ नहीं पहुँच सकती है। वह वाणी का स्रोत है मगर वाणी वहाँ नही जा सकती, बिलकुल वैसेही, जैसे आप अपने कंधोंपर नहीं चढ सकते। आपके अपने पैर हैं आपके अपने कंधें भी हैं लेकिन आप अपने कंधोंपर चढ नहीं सकते हैं। इसी तरह वाणी वहाँ नहीं पहुँचती है। *न तत्र वाग्‍ गच्छति, नो मनः, न प्राणोपि, न चक्षुः।* ऐसा मत सोचो कि तुम वाणी की सहायतासे, शब्दों की सहायतासे, ग्रंथों मे दी गयी जानकारी की सहायतासे वहाँ पहुँच सकोगे।” ‘ठीक है, अगर वहाँ वाणी नहीं जा सकती तो मैं उस बारे में मेरे दिमाग से सोचूँगा, कल्पना करूँगा, अनुमान कर समझूँगा, मैं मेरे मन से उसका अनुभव करूँगा’ तो, *न तत्र वाग्‍ गच्छति, न मनः*, “पुत्र, वहाँ तो मन भी नहीं जा सकता।” अब, ऐसा क्यों है भला? क्योंकि, शब्दों के बिना मन विचार भी नहीं कर सकता! कृपया समझने की कोशिश करें। मन में उठने वाली भावना हो, या विचार हो , कल्पना हो, या कोई इच्छा हो – प्रत्येक मानसिक हलचल को शब्दों की जरूरत है। तो अगर वाणी, उसके कंपन वहाँ तक नहीं पहुँचते हैं तो स्वाभाविक ही मन भी वहाँ नहीं पहुँच सकेगा। शब्द वहाँ पहुँच नहीं सकते – ऐसा क्यों है? इसकी थोडी गहराई में चलेंगे। शब्द क्या है? ध्वनि-ऊर्जा का कुशलतापूर्वक किया गया प्रयोग ही तो है। ध्वनि के बगैर, आवाज के बगैर शब्द हो सकता है क्या? आपमें, हममें, पशुओं में, पेडपौधों में, जल में – ध्वनी निहित है। ध्वनि का आवाज में अभियान्त्रिकी करने का सौभाग्य मानव ने ही पाया है। जिन्होंने सार्थ शब्द निर्मिती की और भाषाएं बनाई वे सभी अव्वल दर्जे के अभियन्ता रहे होंगे। तो, उन्होंने ध्वनी ऊर्जा को कुशलतापूर्वक, उसके उतारचढाव तथा लय को इंजीनियर किया।

तो, ध्वनी मूलतत्व है जिसमें से सृजन हुआ। देखिये आप दूध से दही बना सकते हैं लेकिन एक बार अगर दही बन जाए तो दही दूध नहीं बना सकता। दही को वापिस दूध में रूपांतरित नहीं किया जा सकता। आप उसमें से मक्खन बना लेंगे लेकिन मक्खन से फिर दही नहीं बन सकता। यह स्रोत है। दूध दही का स्रोत है, उद्गम है। दही मक्खन का स्रोत है। एक बार अगर उसे बना लिया तो फिर उसकी अपनी पहचान है, उसका व्यष्टित्व है। तो, शब्द – उनका उच्चारण सभीका अपना व्यष्टित्व – अपना सौंदर्य है। वह एक संकेतचिन्ह की तरह है। वह आपको अर्थ की ओर संकेत करता है। वह आपको सूचित करता है लेकिन शब्द फिरसे ध्वनी में रूपांतरित नहीं किया जा सकता। तो, शब्द ध्वनी के मूलतत्व तक नहीं पहुँच सकता और ध्वनी का जन्म कैसे होता है? ध्वनी का उद्गम मौन में से है। ध्वनी मौन का ही प्रसरण है, विस्तार है। मौन में ही उसका जन्म है। तो, शब्द नहीं, ध्वनी नहीं किंतु अगर कोई अपने आपको स्वेच्छासे मौन की अवस्थामें रखता है तो संभव है कि वह मूलभूत ऊर्जा, वह आदिप्रज्ञा जो कि अभी सूप्त है, सर्व व्याप्त है – सक्रीय हो जाती है – और आपके अवयव भी उसका स्पर्श महसूस कर सकते हैं। हरेक ज्ञानेंद्रिय उसे अनुभूत करता है। वे महसूस कर लेते हैं लेकिन उसे खोज नहीं पाते, स्रोत तक जा नहीं सकते।

*न तत्र वाक्‍ गच्छति न मनः न प्राणः* – आपके प्राण भी वहाँ तक जा नहीं सकते, उसे पकड नहीं सकते। वह ऐसा भी नहीं है जिसे किसी संवेदना के रूप में पकडा जाए। हमारे ज्ञानेंद्रिय, हमारे अवयव जिनमें संवेदनक्षमता भरी हुई है, बाहरी वस्तु तक पहुँचते है और संवेदना लेकर वापस आ जाते हैं। ज्ञानेंद्रिय का काम ही बाहरी संवेदना वापस ले आना है। जैसे ही जीव तक वह संवेदना पहुँचती है वह उस संवेदना को विद्युत-आवेग में परिवर्तित कर देता है। वह आवेग मस्तिष्क तक पहुँचता है और फिर उसका अर्थ-प्रकाशन घटित होता है। अब यह तो संवेदना नहीं है। मौन कोई संवेदना नहीं है। ना तो वहाँ शब्द पहुँच सकता है और न ही मन जिसकी हलचल के लिये शब्दोंकी जरूरत है और न ही प्राण। इसीलिये श्वास-प्रश्वास के बीच जब कुंभक घटित होता है- वह अंतर-कुंभक हो या बहिर-कुंभक हो - आप बाहर श्वास रोक कर रखें या अंदर रोक कर रखें – इस विराम काल में मौन के आयाम को अनुभूत किया जा सकता है। जो भी अंतर या बहिर कुंभक के काल को विस्तृत करता जाता है, बढाता जाता है वह उस ऊर्जा की उपस्थिती अनुभूत कर सकता है। दो विचारों के बीच के अंतराल में, श्वास-प्रश्वास के बीच के विरामकाल में ही शाश्वतता का सौरभ है, उसमें समाये हुए जीवन के स्रोत का सौरभ है।

*‘न तत्र वाक्‍ गच्छति नो मनः न प्राणः न चक्षु पश्यंति’-* और नेत्र देख नहीं सकते। आँखें केवल उसी चीज को देख सकती हैं जो उनसे पूर्णतया जुदा हो, अलग हो। ऐसे में अलगाव है, विभक्ति भी है। तो आँखें देखनेवाली (subject) हैं और वे वस्तु (object) को देखती हैं। हममें और सत्य में यह विषय-वस्तु संबंध कोई मायने नहीं रखता है; ऐसा अलगाव, ऐसी विभक्ति संभव नहीं है क्योंकि वह हमारा स्वरूप है। वही हमारा सार है, सत्व है। उसे चाहे आप सत्य कहि ये, चैतन्य कहिये, आत्मन्‍ कहिये या परमात्मन्‍ कहिये। आपको अच्छा लगे तो उसे ईश्वर भी कह सकते हैं। वह दैवत्व ही हमारा स्वभाव है, वही हमारे अस्तित्व का सार है।

***‘धीरः’* का आचरण कैसे होता है?**

इस तरह नेत्रों ने, श्रोत्र ने, मन ने, तथा प्राण ने जो विषय-वस्तु संबंध बना रखा है वह कुछ भी मायने नहीं रखता है, इस बात को जो समझ चुके हैं –*धीराः* – हैं। यह कुछ ऐसा है जिसके लिये अविभाज्य, अविभक्त अस्तित्व जरूरी है। *धीरः* - वह, इस बात को समझ चुका है, इस तथ्य को जानकर अनुभव कर चुका है। वह *धीरः* कहलाता है। *धीरः* मतलब उसमे अत्याधिक धीरज है, धैर्य है। हम तो अधीर हैं। हमें विभाजन का तनाव पसंद है। हमे तो बाहर की ओर गतिविधि कर कुछ संवेदनाओं को, उत्तेजनाओंको पकडना, पाना अच्छा लगता है। जिसके बाद कोई कह सके की ‘यह मैनें किया है। मैनें देखा है, मैनें अनुभव किया है।’ तो मौन के क्षणों के बाद यह जो अविभाज्य, अविभक्त अस्तित्व अवतरित होता है वह लोगों को रूचिपूर्ण नहीं लगता। उन्हें वह विभाजन का तनाव ही पसंद है। और वही तनाव उन्हें जिंदा रहने का अहसास देता है।

कुछ न कुछ करने की सनसनी हो तो ही उन्हें लगता है कि वे जिंदा है। उन्हें लगता है कि वे कुछ कर रहे हैं। लेकिन कुछ भी होने के लिये विभाजन जरूरी हो जाता है, अलगाव होना जरूरी हो जाता है और यही बात है जो ऋषि अपने शिष्य को समझाना चाहते हैं। तो वे कहते हैं - *धीराः* - याने वो, जिसने सत्य को जाना है, कि यह विभाजित द्वैत जीवन, केवल ज्ञानेंद्रियों तक एवम्‍ शरीर तक ही संबंध रखता है लेकिन सार-तत्व जो कि भीतर में है वह न तो विभाजित है और ना ही समग्रता से अलग हुआ है। यद्यपि वह समग्रता की अभिव्यक्ति है - वह समग्र ही है। देखो तुम एक वृक्ष को देखते हो। क्या वृक्ष पृथ्वी का ही हिस्सा नहीं है? उसमें पृथ्वी समायी हुई है, नहीं तो उसके तने में इतनी घनता नहीं आती। उसमें जल है , नहीं तो उसमें रंग नहीं होते। उसमें सूर्यप्रकाश है। उसमें अग्नि, जल, वायु, एवम्‍ पृथ्वी है फिर भी वह वृक्ष है। वह जीवन के समग्रताकी अभिव्यक्ति है। वह कंडेन्सड, संक्षिप्त समग्रता है। यह संक्षिप्त वैश्विक अभिव्यक्ति है।

उसीतरह – *धीराः* – जिनमें अत्यधिक धीरज है क्योंकि उन्हें सत्य समझ चुका है वे अवयवों की बाहरी हलचल से तथा उनके द्वारा लाये गये अनुभव से प्रभावित नहीं होते हैं, मोहित नहीं होते हैं। उन्हें उद्गम की सन्निधी में ही संतोष लगता है, उस ऊर्जा के साथ रहने में ही तृप्ति महसूस होती हैं। आपको याद है? “*आत्मनि आत्मन एव तुष्टाः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते* ।” हमने गीताजी के दूसरे अध्याय में सीखा था। जो अपने आप में ही तृप्त है, संतुष्ट है वह कुछ बनने के लिये या कुछ करने के लिये अधीर नहीं है। वह कुछ भी करता है तो करने के लिये लालाइत हुए बिना ही करता है। सामाजिक जीवन में अगर कुछ ‘बनना’ अपरिहार्य होगा तो वह बनेगा किंतु वह उसकी लालसा या अभिलाषा नहीं होगी।

‘कुछ बनना’ एक अपरिहार्यता है जिसमें से व्यक्ति को गुजरना पडता है। *आत्मनि आत्मन एव तुष्टाः*। वह उसके होने में, ‘जो है जैसा है’ में, उसके सार-तत्व में, पूर्णतया संतुष्ट है। उसीप्रकार यहाँ *धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति –* हे पुत्र, उस सार तक, अमृत तक, सत्य तक पहुँचने के लिये अत्यधिक धैर्य की, धीरज की जरूरत है। यह धैर्य जागृत तभी होता है जब कोई जान जाता है कि ज्ञानेंद्रिय तथा उनके लाये हुए अनुभव इन सभी के लिये कोई और ऊर्जा है जो इच्छा करती है, प्रेरणा देती है और हलचल करती है। इंद्रिय अपने आप से जरा भी हलचल नहीं कर सकते हैं। *धीराः* – में बहुत अधिक धीरज होता है। उन्हें सही समझ के जरिये इस सत्य के अमृत की उपलब्धि होती है।

**विभिन्न व्याख्याएँ**

कुछ मुद्दे विशेषकर उन योग शिक्षकों के लिये जो प्रत्येक मंत्र का शब्दशः अर्थ समझ कर विशुद्ध अध्ययन करना चाहते हैं। शायद आपने इन उपनिषदों के अंग्रेजी, फ्रेंच, या जर्मन अनुवाद देखे होंगे। रामकृष्णमिशन, स्वामी चिन्मयानंदमिशन, डिवाइन लाइफ सोसायटी और अन्य लोगों ने भी इन उपनिषदोंके अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किये हैं। रामकृष्णमिशनद्वारा प्रकाशित कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया के ग्रंथों में, कोलकोता विश्वविद्यालय के प्रो. दासगुप्ता लिखित हिस्ट्रि ऑफ इंडियन फिलॉसॉफी में, अलाहाबाद विश्वविद्यालय के आर.डी. रानडे, केरला के प्रो. राधाकृष्णन, महाराष्ट्र के विनोबाजी इ. ने इन उपनिषदों का अंग्रेजी में संक्षिप्त विवरण किया है। अधिकतर अनुवाद तथा उस पर लिखी गयी व्याख्या, वेदांत तत्वज्ञान के प्रथम प्रवर्तक श्री शंकराचार्य की व्याख्या पर आधारित है। अब आप लोग मुझे इतने वर्षों से जानते हैं, इन वेद-शास्त्रों के प्रति मेरा दृष्टिकोन अ-पारंपारिक है, रूढ़ियोंसे बँधा हुआ नही है।

तो शंकराचार्य लिखित व्याख्या, जिसे स्वामी विवेकानंद, चिन्मयानंद, शिवानंद,और विनोबाजी ने भी मान्यता दी है, उससे इन वेद शास्त्रोंकी मेरी व्याख्या कुछ भिन्न और कहीं कहीं विपरीत भी हो सकती है। तो इसमें भिन्नता रहेगी। मैं आपको एक उदाहरण देती हूँ। हम प्रथम मन्त्र देख रहे थे-

*केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।*

*केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति* ॥

यहाँ *देवः* शब्द आता है। अंग्रेजी भाषांतर में आप देखेंगे कि इस शब्द का भाषांतर – God किया गया है। वह God जो उन्हें दिशा दर्शाता है, प्रेरणा देता है। करीब-करीब प्रत्येक व्याख्याकार ने ऐसाही भाषांतर किया है। मैं ‘देव’ इस शब्द के मूल धातू तक जाती हूँ और देखती हूँ कि उसकी उत्पत्ती कैसे हुई है। संस्कृत के ‘दिव’ इस धातू से ‘देव’ यह शब्द उत्पन्न हुआ है। संस्कृत में चाहे वह आधुनिक हो या प्राचीन हो, ‘दिव’ का अर्थ होता है ‘प्रकाश उत्पन्न करना’, वह जो स्वयं-प्रकाशित है, जो आलोकित करता है। तो मैं प्रत्येक शब्द के मूल तक जाती हूँ और प्रत्येक धातू उसके अर्थ की कई विभिन्न छटाएँ बतलाता है। तो हमें उस मंत्र को पूर्णरूपसे अनुभूत कर उसमें कौनसा अर्थ मंत्र के लिये स्वीकार करना है यह देखना होता है। मैं यही करती आ रही हूँ।

तो, आज प्रातः जब हम प्रथम मंत्र देख रहे थे तब मैनें God इस शब्द का प्रयोग नहीं किया बल्कि - ऊर्जा, मन के प्रत्येक हलचल के पीछे, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, तथा प्राण इन सभी के पीछे एक निर्देशक ऊर्जा, आलोकित कर देनेवाली ऊर्जा - कहा। यह केवल एक उदाहरण दे रही हूँ। दूसरा मंत्र जो हम आज देखेंगे उसमें एक शब्द आता है –“*अतिमुच्यधीराः” प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति” ‘अतिमुच्य’* इस शब्द का शंकराचार्य तथा अन्य व्याख्याकारोंने ‘संन्यास’ यह अर्थ लगाया है।

वे कहते हैं कि जो *धीराः* हैं, जो विचारपूर्वक समझते हैं वे ज्ञानेंद्रियों के क्रियाकलापों का परित्याग कर देते हैं। चूँकि शंकराचार्य संन्यासी-जीवन के समर्थक थे, त्याग के, संन्यास के समर्थक थे, ‘*अतिमुच्यधीराः’* इस शब्द का अर्थ, इसका भाषांतर ‘संन्यास’ ‘त्याग’ किया गया। जिस व्यक्ती में ज्ञान का, समझ का उदय हो गया है वह दुनिया का तथा उसके सभी क्रियाकलापों का त्याग कर देगा; जो भी हो, इस बात का, इसका, ऐसा अर्थ यहाँ मैं स्वीकार नहीं कर सकती।

*‘मुच्य’* शब्द *‘मुच’* मूलधातू से आया है। *‘मुच’* का मतलब है- स्वयं का किसी जकडन से छुटकारा, चंगुल से छुटकारा: *मुच-मुचयते* – स्वयं का किसी के अधिपत्य से छुटकारा। अगर आप पाणिनी से लेकर प्रभाकर तक, या किसी और भाष्यकारों का संदर्भ देखेंगे, उसमें भी ‘*मुच*’ का अर्थ ‘स्वयं का किसी जकडन से छुटकारा’ ही है। तो आज सुबह जब मैं बता रही थी तब मैनें कहा था – जो व्यक्ती जानता है, जिसे बोध हो जाता है और जो पहचान जाता है कि ज्ञानेंद्रियों में उनकी अपनी जैविक रूप से कुछ प्रेरणा नहीं है। वे तो उस प्रेरणाका वहन कर संबंध प्रस्थापित करते हैं। तो जो व्यक्ति यह जान जाता है कि उस ऊर्जा का स्रोत – उस प्रेरणा का स्रोत उसके ज्ञानेंद्रियों में नहीं है बल्कि कहीं और है तो वह इंद्रियों की क्रियाओं की तथा उनसे मिलनेवाले सुखों की जकडन से, बंधन से मुक्त ही रहता है। आप देखिये कि यह क्रियाओं का त्याग नहीं है। यह तो ऐंद्रिय सुखों के आकर्षण से, उसकी जकडन से, उसके बंधन से स्वयं की मुक्ति है। हम हमारे ही ज्ञानेंद्रियों के कैदी बन गये हैं क्योंकि हम इंद्रियों के सुख के लिये तरसते हैं।

इंद्रियों का बाहर की ओर जाना, वहाँ से कुछ संवेदना-अनुभव ले आना और फिर उसका आवेग में परिवर्तन कर उसका कुछ अर्थ निकालना, फिर उसके मुताबिक प्रतिक्रिया; यह सब एक प्रकार का सुख देता है, आनंद देता है। संवेदन सुख देता है। इंद्रियों की गतिविधी सुख देती है। तो मुझे लगता है कि जिस व्यक्ती ने जान लिया है, वह, ज्ञानेंद्रियों की तृष्णा से मुक्त है। तो यह ज्ञानेंद्रियों की सुख की लालसा का, तृष्णा का संन्यास है भौतिक अथवा इंद्रियों के व्यवहार का, उनके गतिविधी का सन्यास अथवा त्याग नहीं है। क्या आप फरक समझ रहे हैं? यह विशेषतः उनके लिये है जो गहराई में अभ्यास करते हैं और जिनपर दूसरों को सिखाने की जिम्मेदारी है। मैं सब को तो नहीं जानती लेकिन यह जानती हूँ कि आप लोगों में से कुछ लोग सिखाते हैं और गहराई में चिंतन करते हैं। तो, कहीं-कहीं कैसे फरक आ जाता है यह मैं आप लोगों को बताने की कोशिश कर रही थी। भौतिक स्तर पर संन्यास नहीं कि आप अपनी पीठ फेर लें, लेकिन यह तो आंतरिक संन्यास है – यह तो अंतरंगीय स्वातंत्र है जो चीज को समझने पर आ जाता है। करीब-करीब सभी अनुवाद जो आप पढेंगे उसमें *‘अतिमुच्य’* इस शब्द का अर्थ तथा अनुवाद एक तरह से हुआ है, तो आपको लगेगा कि ‘विमला ने ऐसा क्यों कहा?’ तो, मेरा अपारंपरिक, रूढिमुक्त दृष्टिकोन जो थोडा बहुत मेरी समझ में आया है वही मैं आप लोगोंके साथ बाँट रही हूँ।

**स्वतंत्रता को जीना होता है**

चलो अब आगे बढते हैं *‘अतिमुच्य धीराः प्रेत्या अस्मात्‍ लोकात्‍ ’ ‘प्रेत्या अस्मात्‍ लोकात्‍’* शंकराचार्य से लेकर आगे सभी ने इसकाअर्थ लगाया है कि – जिनकी मृत्यू हो जाती है और जो इस लोक को छोड कर चले जाते हैं। ‘*प्रेत्य* ’ के मूलधातु का मतलब है – विदा लेना, छोड कर चले जाना। तो उन लोगों ने जो व्याख्या कर अर्थ किया है उसमें उन्होंने लिखा है कि – *धीराः* – जो व्यक्ती समझ गया है,जान गया है वह सभी इंद्रियों के क्रियाकलापों का तथा भौतिक जगत का परित्याग कर देता है और मृत्यू के पश्चात बंधनमुक्त हो जाता है। ‘*प्रेत्य अस्मात्‍ लोकात्‍’* – मृत्यूके पश्चात वह बंधनमुक्त हो जाता है – *‘अमृता भवन्ति’* – वह शाश्वतता का सारतत्व बन जाता है। वह शाश्वतता में समाँ जाता है। उन्होंने ऐसे अनुवाद किया है।

मुझे लगता है कि शरीर छूटने के पश्चात मिलनेवाली बंधन-मुक्ती से कुछ मतलब नहीं हुआ। अगर मोक्ष का मतलब शरीर छूटने से है तो आप बंधन-मुक्ती की अवस्था कभी जी नहीं सकते। *‘अमृतः*’ - मुक्तावस्था – कारण रहित स्वातन्त्र्य – जीवन का एक आयाम है। इसे जीया जाता है, और जीने के लिये शरीर, ज्ञानेंद्रिय, संबंध, कर्म, जीवन में हलचल इ. की जरूरत है। तो, ‘*प्रेत्य अस्मात्‍ लोकात्‍’,* मैं ‘लोक’ इस शब्द के मूलधातु तक गई। इसका दोहरा अर्थ है। ‘लोक्यते’- देखना, की ओर देखना, और वह जिसकी तरफ देखा जाता है।

संस्कृत के धातुओं का विलक्षण तरीका है अर्थ तक पहुँचाने का! पर्शियन, अरेबिक, ग्रीक और लॅटिन में भी शायद ऐसा ही होगा। मैं इतनी वाकिफ नहीं हूँ उन भाषाओं से लेकिन संस्कृत में तो आपको उसके मूल धातु तक जाना ही पडता है और उस धातु को क्या कहना है यह समझना पडता है। ‘*अस्मात्‍ लोकात्‍ प्रेत्य’,* जो व्यक्ती समझ गया हैं, जान गया हैं, वहज्ञानेंद्रियों के, अनुभव की तथा देखने की लालसा के परे चला जाता है।अब उन सभी इंद्रियजन्य क्रियाओं ने अपना आकर्षण खो दिया है। वह उस आकर्षण के, मोह के ‘*लोक’* के परे निकल गया है।

उदाहरण के तौर पर देखिये, जब आँख किसी चीज को देखती है – यह हो गया ‘चक्षु- लोक’- आँख और वस्तु का संबंध अनुभव के आयाम में हो रहा है। तो, आँखोंके माध्यम से अनुभव, यह एक लोक हो गया। अब आप सुनते हैं। इसमें श्रवण के माध्यम से अनुभव है।– सुनने के माध्यम से। तो वह हो गया सुनने का ‘लोक’। श्रवण-लोक । अगर आप उसके मूल धातु तक जाए तो ‘लोक’ बहुत ही मनोज्ञ शब्द है। तो, मैं मन्त्र को लेती हूँ और उसके मूल को देखती हूँ – फिर उसके समीप बैठती हूँ और उसे अपना अर्थ उद्घटित करने देती हूँ।

तो मैनें आपको कुछ एक उदाहरण दिये हैं। अब अगर आप उपनिषदों की अन्य व्याख्याएँ, अनुवाद देखेंगे और उसमें कुछ फरक महसूस हुआ तो आप उलझन में ना पडे, उसे सिर्फ देखें। आप के मन में लगेगा ‘ठीक है यह शंकराचार्य का पारम्परिक कथन है, और यह देखने का अपारम्परिक, रूढिमुक्त नया तरीका है।’ इसके बाद आप अपने स्वयंके अंतस को ही पूछकर देखिये और फिर उसे ही स्वीकार करें। यहाँ कोई आपको ‘अपना ही कैसे सही है’ यह नहीं बता रहा। मैं तो जो मुझे लगता है वह आप लोगों के साथ बाँट रही हूँ। मैं बचपन से ही पारम्परिक के अथवा किसी के ‘अनुसार’ चलनेवाली नहीं थी। उपनिषदों का अभ्यास मैनें करीब चालीस साल, नहीं पैतालीस साल पहिले किया है। पहिले तो मूल उपनिषद तथा विश्वविद्यालय की परीक्षा देनी थी इसलिये उनके ऊपर लिखी गयी भिन्न-भिन्न समीक्षाएँ, व्याख्याएँ, भी पढीं थी। इसकारण उनमें दिखनेवाले फरक बता रही थी। अब, समीक्षाओं के तथा व्याख्याओं के दृष्टिकोण का फरक बताने के बाद जो सुबह शुरु किया था वह मन्त्र पूर्ण करना है। तीसरे मन्त्र का अंतिम भाग है – *‘न तत्र चक्षुर गच्छति नो मनः’* वहाँ न तो नेत्र न ही मन या श्रोत्र पहुँच पाते हैं- *‘न विद्मो न विजानीमो यथा एतत्‍ अनुशिष्यत्‍’*,

**गुरुकी विनम्रता**

शिष्य ने प्रश्न पूछा था, “उस ऊर्जा के स्रोत तक कैसे पहुँचा जाता है? उस स्रोत तक जिसमें उस परम-इच्छा का तथा प्रेरणा का सामर्थ्य समाया हुआ है। यह प्रश्न था। तो, गुरु कहते हैं, “*न विद्मो*- हम नहीं जानते, ‘*न विजानीमो यथा एतत्‍ अनुशिष्यत्‍’-* जो किसीको सिखा सके ऐसे कोई तन्त्र या विधी के बारे में भी हम नहीं जानते हैं।” सुबह मन्त्र का यह भाग रह गया था। शिक्षक में इतनी विनम्रता है, विनय है कि वे कहते हैं - जहाँ नेत्र, श्रोत्र, वाणी तथा मन नहीं पहुँच पाते है, वह कैसे सिखाना यह हम नही जानते।

क्योंकि आप तो वहीं तक सिखा सकते हैं जहाँ तक ज्ञानेंद्रियों की क्रियाएँ, भौतिक क्रियाएँ, मन की गतिविधि - औचित्य रखती है। शब्दों की, कल्पनाओं की, धारणाओं की, सिद्धांतों की गतिविधी भी तो गतिविधी ही है। लेकिन जब मन ही वहाँ तक नहीं पहुँच सकता इसका मतलब हुआ धारणा, कल्पना, विचार भी कुछ सहायता नहीं करेंगे। वैसे ही नेत्रों द्वारा तथा श्रोत्र द्वारा अनुभव और उस अनुभव के आधार पर से किया जानेवाला वर्णन भी तो कुछ मायने नहीं रखेगा। इसलिये अगर वह इंद्रियों के अनुभव का नहीं है, वाणी से अभिव्यक्त नहीं हो सकता और उसे मन भी अनुभव नही कर सकता, उसे कैसे कोई गुरु, शिष्य को समझा सकता है? हम नहीं जानते उसे कैसे सिखाया जाय। यह संवाद बडा ही रोचक है, क्या मैं उसे ऋषि ने, गुरु ने किया हुआ ‘ससीमताका-स्वीकार’ नहीं, तो भी “स्वीकारोक्ति’ तो कह ही सकती हूँ कि किसी भी ऐंद्रिय क्रिया के द्वारा ‘सत्य’ सिखाया नहीं जा सकता!

हमने आज सुबह प्रारंभ में कहा था कि यह उपनिषद सामवेद के अंतर्गत आता है। यह नौवां अध्याय है। पहले आठ अध्यायों में यज्ञ, यज्ञ-संबंधी शास्त्रोक्त कर्म, बलिदान इ. धार्मिक कृत्य, इन सबसे आपको क्या प्रतिफल मिलता है, आपमे किस प्रकार की शक्ति बढती है, किस तरह के अतींद्रिय अनुभव प्राप्त होते हैं, इन सभी का वर्णन आता है जिससे हमें कुछ लेनादेना नहीं है। तो यहाँ ऋषि कहते हैं कि सभी ऐंद्रिय गतिविधियाँ, शास्त्रोक्त धार्मिक कर्म, यज्ञ, बली, मन्त्र, तन्त्र, एकाग्रता और जो भी हो, इन सबसे सत्य की उपलब्धि नहीं होती। तुमने यह सब जान लिया है।

वे कहते हैं, हे पुत्र, तुमने देख लिया है कि पहिले आठ अध्यायों में बताया है कि शक्ति कैसे बढती है, उससे अनुभव कैसे आते हैं, तुम्हें भावावस्था और सुंदर अनुभूति कैसे आती है लेकिन यह वो नहीं है; यह स्वातन्त्र नहीं है, बंधनमुक्ती नहीं है, यह सत्य से मिलन, संयोग नहीं है। तो, यहाँ गुरु स्वीकार कर रहें हैं कि यह सिखाना यह हम नहीं जानते है। इतना सुबह बाकी रह गया था। यह हो गया, अब आपके सवाल देखेंगे।

**प्रार्थना**

*ॐ आप्यायन्तु ममाग्ङानि वाक्‍ प्राणश्वक्षुः श्रोत्रमथोबलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु।*

*ॐ शांतिः ।शांतिः। शांतिः।*

\*\*\*\*\* \*\*\*\*\* \*\*\*\*\*